अध्यापक के पर्याय

*ऋतु भारद्वाज**

समाज में जब भी बदलाव आता है शिक्षा के साथ शिक्षक की भूमिका में भी परिवर्तन आता है। बच्चों की शिक्षा-दीक्षा में गुरु की महत्ता तो निर्विवाद रूप से रही है। प्रत्येक काल में यह मौजूद थी, इस महत्ता में यदि फर्क पड़ा है तो वह इस भूमिका के निर्वाह को लेकर ही पड़ा है कि कितनी बुद्धिमता और दूरदर्शिता से शिक्षकों ने इसे निभाया है। समय की गति कितनी भी तीव्र क्यों न हो जाए शिक्षा में उसकी भूमिका को नकार पाना अंसभव होगा।

मनुष्य को प्रकाशवान, जागरूक, समाजोपयोगी बनाने में प्रत्येक युग में शिक्षा की अपनी अहम भूमिका रही है। प्राचीन समय में भारत तथा अन्य देशों में विभिन्न दार्शनिकों (सुकरात आदि) का नगर के गली, चौराहों पर युवकों को शिक्षा के विषय में जिज्ञासु बनाकर उन्हें सोचने और समझने के लिए प्रेरित करना, खुली शिक्षा व खुले विद्यालयों द्वारा विभिन्न प्रकार से दिए जाने वाली ज्ञान की प्रक्रियाएँ अब बंद विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों तथा आधुनिक शिक्षा के एक बंधे कार्यक्रम में हमारी समस्त चेष्टाओं के बाद भी सीमित होकर रह गई हैं। इन बंद विश्वविद्यालयों एवं महाविद्यालयों में निश्चित समय में निश्चित व्यक्तियों द्वारा, निश्चित पाठ्यक्रम को पूरा करने के लिए, जिन व्यक्तियों को निश्चित किया जाता है, इनका पद प्राचीन समय की अपेक्षा कम गौरवास्पद हो गया। उनकी आलोचनाएँ होती हैं तरह-तरह के दोषारोपण किए जाते हैं कि विद्यालयों में पढ़ाते नहीं, ट्यूशन करते हैं। अपने घर के आस-पास अपना स्थानांतरण कराकर अपने घर-परिवार की देखभाल करते हैं या कृषि संबंधी कार्यों को पूरा करते हैं और जो घर से दूर रहते हैं तो उनके लिए कहा जाता है कि आए दिन छुट्टी पर रहते हैं और जब वह अपने घर-परिवार या कृषि संबंधी कार्यों की उचित रूप से देखभाल नहीं कर पाते हैं तब वह अपनों को उच्च श्रेणी में रखने के लिए ट्यूशन करते हैं तो वे समाज की नज़रों में और भी हीन समझे

*अध्यापिका, पुत्री श्री महेश प्रकाश शर्मा, खरखौदा (रोडवेज बस स्टैंड के पीछे), मेरठ. 245206, उ.प्र.

जाते हैं। समाज उन व्यक्तियों को तो हेय दृष्टि से नहीं देखता जो रिश्वतखोरी के बल पर बिना श्रम किए सभी भौतिक सुविधाओं से संपन्न होते हैं किंतु एक अध्यापक की परिश्रम की अर्जित की हुई धनराशि पर अवश्य प्रश्नचिन्ह लगाकर देखता है। समाज तो क्या आज सरकार भी अध्यापक के इस परिश्रम को अपनी अंतर्दृष्टि से नहीं देख पाई और उसने भी अध्यापक के इस ओवरटाईम पर रोक लगा दी। इस संदर्भ में डॉक्टर, वकील, इंजीनियर, कलेक्टर, पुलिस उच्चायुक्त, व्यापारी, राजनीतिज्ञ इत्यादि अन्यों के जनक शिक्षक के बदलते परिवेश एवं परिस्थिति में बदलते पर्याय का समालोचनात्मक रूप संभवतः यहाँ स्पष्ट हो–

प्राचीन भारत में अध्यापक की स्थिति

भारतीय जीवन में गुरु का स्थान अत्यधिक गौरवपूर्ण रहा है। सरस्वती के पावन मंदिरों को 'गुरुकुलों' की संज्ञा से व्यक्त किया है। हमारे ऋषियों ने गुरु को त्रिदेवों से महान परब्रह्म के रूप में नमस्कार करने की बात कही है।

**गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णों गुरुर्देवों महेश्वरः।*
गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः।।

संत कबीर ने गुरु की महिमा को और भी अधिक आगे माना है। गुरु और गोबिंद की श्रेष्ठता में उन्होंने गोबिंद के दर्शन कराने वाले 'गुरु' को अधिक श्रद्धा प्रदान करके संसार में गुरु की महत्ता प्रतिपादित करते हुए कहा है कि

गुरु गोबिंद दोऊ खड़े, काके लागू पाय।
बलिहारी गुरु आपने जिन गोबिंद दियो बताय।।

वास्तव में गुरु कौन होता है? इस प्रश्न का उत्तर हमें आंग्ल भाषा में दी गई परिभाषा से मिल जाएगा। मानक को 'मानव' रूप प्रदान करने वाला व्यक्ति ही गुरु है।

संस्कृत साहित्य में भी इसका अर्थ विशिष्ट भाव निर्मित है, जो अज्ञान को दूर करके धर्म का उपदेश देता है, वही गुरु कहलाता है। प्राचीन समय में जो व्यक्ति किसी प्रकार से, किसी भी क्षेत्र में मानव को सुसंस्कृत बना सके, वही गुरु पद से विभूषित होता था। यद्यपि मानव, जीवन में स्वाध्याय द्वारा भी ज्ञान ग्रहण करता है, परंतु स्वाध्याय की प्रधानता होते हुए भी उसे आत्मा साक्षात्कार ज्ञान तथा अपनी जिज्ञासा को शांत करने के लिए गुरु की आवश्यकता तो होती ही है।

वैदिक काल

वैदिक काल में अध्यापक का कार्य धनार्जन के लिए नहीं होता था। इस युग का आचार्य अपने भरण-पोषण की चिंता किए बिना नदी के जल तथा सूर्य के प्रकाश की भाँति अपने ज्ञान का आलोक समाज में बिखेरता था तथा हज़ारों चिरागों को रोज़नी बाँटकर उन जिज्ञासुओं को नई दृष्टि देता था, जो कि शिक्षक द्वारा दिखाए रास्ते पर चलकर राष्ट्रोत्थान या लोकमंगल के लिए जीवन कार्य में उतरते हैं। व्यक्ति निर्माण की इस अनुपम सेवा के लिए हमारा प्राचीन

राज्य एवं समाज भी शिक्षक की इस अद्‌भुत प्रतिमा के सम्मुख सदैव सम्मान एवं श्रद्धा से नतमस्तक होते रहे हैं (मनुस्मृति)। इस प्रकार, शिक्षक (आचार्य) का व्यक्तित्व गौरवपूर्ण था। इसका उल्लेख करते हुए वैदिक साहित्य में कहा गया है कि –

> *"अध्ययन और अध्यापन दोनों ही आनंद के निस्यंद हैं, मन मुक्त हो जाता है, स्वतंत्र होकर व्यक्ति समृद्धि पाता है और वह शांति से सोता है (शतपथ ब्राह्मण 11.5)। 'शिक्षक' और 'गुरु' शब्दों में व्यापक अंतर नहीं है, शिक्षक शिक्षा देता है शिष्य उसके द्वारा प्रदत्त ज्ञान में अच्छा, बुरा, सही, गलत का अनुमान लगाता है, किंतु 'गुरु' मंत्र देता है, वह शिष्य के हृदय में शक्ति का निपात करता है, जिसके प्रकाश से उसका हृदय आलोकित होता है। उसे स्वत: ही सत्य-असत्य का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। जब शिष्य की प्रज्ञा जाग जाती है और कुण्डलिनी उर्ध्वाभिमुख हो चलती है तब गुरु और शिष्य में जीवन तथा ईश्वर एवं आत्मा- परमात्मा की भांति कोई अंतर नहीं रह जाता है।"*

उपनिषद काल में आचार्य प्राय: महर्षि थे। साधारण आचार्य विनयी थे। 'आचार्य' शब्द की व्युत्पत्ति निरुक्त में 'आचार' शब्द से बतलाते हुए कहा गया है कि *'आचार' को ग्रहण करने वाला व्यक्ति ही आचार्य है।'* प्राय: विद्यार्थियों को सदाचारी बनाने के लिए आचार्य का उपदेश पर्याप्त होता था (चुलनन्दिय जातक 222, तिलमुटिठ जातक 2369)। उस युग का आचार्य सत्यनिष्ठ होता था, इसी आधार पर वह अपने स्नातक को सारगर्भित उपदेश भी देता था। (सत्यंवद, धर्मचर)। *यान्यनबर्धान, कार्याण तीनि सेवितव्यामि* (कठोपनिषद्-1.9)। उपनिषद कालीन आचार्य का व्यक्तित्व मधुर था, उसकी वाणी मधुर थी, वह अपने ज्ञान की निर्झरिणी स्वान्त सुखाय: एतत् प्रवाहित रखना चाहता था। आचार्य की धारणा थी कि व्यक्तित्व के विकास के लिए स्वाध्याय और प्रवचन समान रूप से आवश्यक है तथा वह कामना करता था कि उसका तथा उसके शिष्य का अध्ययन तेजस्वी हो। इस युग में साधारणत: शिक्षक ब्राह्मण ही थे। पर कुछ क्षत्रिय राजा भी उस समय उच्चकोटि के दर्शन के विद्वान थे तथा उनके पास भी अध्ययन के लिए ब्राह्मण विद्यार्थी जाते थे।

इस काल में यद्यपि स्वाध्याय का विशेष प्रचलन था तथा विद्यार्थी के लिए शिक्षक की आवश्यकता भी प्रतीत होती थी। कठोपनिषद में गुरु का अस्तित्व अनिवार्य बताया है तथा उसका पूर्ण ज्ञानी, सर्वद्ष्टा तथा ब्रह्मा में निवास करने वाला होना आवश्यक था, तभी वह अपने शिष्य को अतंर्चक्षु प्रदान कर आध्यात्मिक जीवन देता था, वह समाज का पथ प्रदर्शक, नेता तथा निर्णायक माना जाता था। उपनिषदों में ऐसे देवतुल्यगुरु के लिए 'श्रोत्रिय एवं ब्रह्मनिष्ठ' इन दो विशेषणों का प्रयोग किया गया है जो कि गुरु की कोटि से उत्कृष्ट देवत्व के आसन पर आसीन कराते हैं।

सूत्रकाल में अध्यापक की स्थिति वैदिक तथा उपनिषद काल जैसी ही रही। उस समय भी अध्यापक गौरवास्पद पद पर आसीन रहा तथा राज्य के लिए आदर्श रूप में सम्माननीय था लेकिन ऋग्वेद की अपेक्षा उत्तर वैदिक काल में गुरु की प्रतिष्ठा कर्मकाण्डजन्य अहं की भावना विकसित होने के कारण उतनी निस्पृह तथा अक्षुण्ण न रह सकी। 'आपस्तम्भधर्मसूत्र' में अनुभवी तथा समर्थ छात्रों को शिक्षक की अनुपस्थिति में शिक्षण कार्य संभालना पड़ता था अर्थात 'बालचर प्रणाली' भारतीय शिक्षण पद्धति में प्राचीन काल से व्यक्त होती रही है।

वैदिक काल में हमें चार प्रकार के अध्यापक देखने को मिले, जो ब्राह्मण अपने शिष्य को कल्प और रहस्य से युक्त वेद पढ़ाता था, वह उपाध्याय कहा जाता था। जो अपने शिष्य के सभी-संस्कार करता था तथा अन्नादि से उसका पोषण करता था, वह 'गुरु' पद से विभूषित होता था और जो अग्नयाज्ञान तथा अग्निश्टोम आदि के लिए वरण किया जाता था वह 'ऋत्विक' कहलाता था। इन सभी के महत्व का क्रम बताते हुए कहा गया है कि 'उपाध्याय' से दस गुना 'आचार्य', आचार्य से सौ गुना 'पिता' और 'पिता' से सौ गुना 'माता' श्रेष्ठ होती है तथा उत्पन्न करने वाले पिता की अपेक्षा ब्रह्मज्ञान देने वाला 'गुरु' पिता से अधिक श्रेष्ठ होता है।

इसके अतिरिक्त उपनिषदों में महिला अध्यापिकाओं का भी उल्लेख मिलता है, जो कि 'ब्रह्मवादिनी' कहलाती थीं। इस प्रकार प्राचीन भारत का अध्यापक बिना शुल्क लिए ही इतने महत्वपूर्ण एवं सम्मानित पद पर आसीन था कि उसके लिए कोई भी भौतिक वस्तु अलभ्य नहीं थी। भारतीय समाज के विचारक सदा प्रयत्नशील रहते थे कि अर्थाभाव के कारण कहीं शिक्षक के अध्यापन में बाधा उपस्थित न हो और उसको अपना कार्य स्थगित न करना पड़ जाए। शिक्षक की अर्थव्यस्था का ध्यान समाज को सदैव बना रहता था तथा शिक्षक समाज में पूज्य समझा जाता था। रामायण तथा महाभारत-प्राचीन भारत के प्रमुख महाकाव्य है जिन के अध्ययन से हमें भारतीय संस्कृति का स्वरूप देखने को मिलता है। महाभारत में 'आचार्य' और 'उपाध्याय' का अंतर स्पष्ट नहीं है। रामायण में कहीं-कहीं शुक्राचार्य को उपाध्याय कहा है (अरण्यकाण्ड, बा. रामायण सर्ग 11-12)। महाभारत काल में भी उच्च कोटि के आचार्य वेतन लेकर वेदाध्ययन नहीं कराते थे और यदि वह ऐसा कार्य करते थे तो बिना प्रायश्चित किए उनकी शुद्धि नहीं हो सकती थी (शांतिपर्व 33.36)। जो राजकुमारों को शिक्षा देते थे उनको 'कारणिक' उपाधि से विभूषित किया जाता था। वे आचार्य धर्म एवं अन्य शास्त्रों के भी कोविद होते थे (सभापर्व 5.33)।

व्याकरण साहित्य में पाणिनी और पतंजलि दो प्रमुख स्तम्भ हैं। उन्होंने अपने व्याकरण साहित्य के सूत्रों में तात्कालिक स्थितियों का भी वर्णन किया है, जिसके आधार पर हम गुरु की स्थिति का पता लगा सकते हैं। दोनों के मत में शिक्षक के बारे में साधारणतः समानता है किंतु वर्णन में अंतर है। पाणिनी के अनुसार-

"शिक्षक अपने शिष्य को ज्ञान प्राप्त कराने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ होता था' तो पतंजलि के अनुसार, 'उनका उद्देश्य छात्रों को दुर्गुणों से मुक्त कराना था।"

पाणिनी ने 4 प्रकार के शिक्षकों का उल्लेख किया है। 'आचार्य', 'प्रवक्ता', 'श्रोत्रिय' और 'अध्यापक'। इनमें 'आचार्य' का स्थान सर्वोच्च था। महाभारत में इन चारों का महत्व मिलता है।

वेदाध्ययन में महाभारत में तीन कोटियाँ बताई गई हैं– छनदोवित, वेदवित और वेद्यवित। मध्यम कोटि के विद्वान वेदवित होते थे और वेद्यवित ही 'आचार्य' कहलाते थे। महाभारत में प्रवक्ता को 'आख्याता' भी कहा है। यही आख्याता कहीं-कहीं वेदवित से भी विभूषित हुए हैं। श्री नत्थू लाल गुप्त द्वारा 'प्राचीन भारतीय शिक्षा और शिक्षा शास्त्री' ने महाभारत कालीन आचार्य को आत्मवित या ब्रह्मवित कहा है। 'श्रोत्रिय' तृतीय श्रेणी के अध्यापक माने जाते थे। महाभारत में ये 'बहुपाठी' या 'छनदोवित से जाने जाते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि महाभारत में उल्लिखित वेद्यवित, वेदवित, छनदोवित (बहुपाठी) क्रमशः पाणिनी द्वारा उल्लिखित आचार्य, प्रवक्ता और श्रोत्रिय थे। चौथी श्रेणी उन शिक्षकों की थी जो लौकिक अथवा वैज्ञानिक विषयों का अध्यापन करते थे। ये अध्यापक कहलाते थे। सामान्यतः दोनों के साहित्य में वैदिक युगीन शिक्षक की स्थिति दृष्टिगोचर होती है। महाभाष्य में 'आचार्य' और 'प्राचार्य' सर्वोच्च अध्यापक माने जाते थे। इनके नीचे 'गुरु' और 'उपाध्याय' होते थे। उपाध्याय के यहाँ विद्यार्थी अपने घर से आकर पढ़ते थे तथा 'गुरु' के यहाँ विद्यार्थी अंतेवासित होकर पढ़ते थे। पाणिनी और पतंजलि ने आचार्य कोटि को ही समुज्जवल बताया है। 'शिक्षक' धनुर्वेद आदि व्यवसायिक विषयों की शिक्षा देते थे। 'गुरु' पद विशेष समावृत था। महाभाष्य के अनुसार कुछ अध्यापक वेतन भी लेने लगे थे। इसके अतिरिक्त व्याकरण साहित्य में अध्यापक को भिन्न-भिन्न योग्यताओं के अनुसार भिन्न-भिन्न संबोधनों द्वारा संबोधित किया गया है।

'आचार्य' उच्च कोटि के विद्वान तथा मौलिक विचारक होते थे। 'गुरु', 'शिक्षक' और 'उपाध्याय' की योग्यता तथा विचारशैली अर्थात शास्त्रार्थ आदि में एवं छात्रों को स्पष्टीकरण करने की शैली या समसाम्य या उच्च होने पर उपाधि से अलंकृत किया जाता था।

ब्रह्मवादिन – जो धार्मिक साहित्य की व्याख्या करने में संलग्न रहते थे।

परिव्राजक – जो अपने जीवन के अंतिम चरणों में घूम-घूम कर शिक्षा प्रसार में योग देते थे। ये परिव्राजक भी दो प्रकार के होते थे–

(क) जो जनसमूहों से दूर रहते थे उनको 'आरण्यक' कहा जाता था।

(ख) जो ग्रामवासियों के निकट विचरण करते थे, उनको 'नैकटिक' कहा जाता था।

ये सभी प्रकार के आचार्य अपने आश्रम स्थापित करते थे। प्रायः सभी प्रकार के शिक्षकों का साधारण नाम 'उपाध्याय' भी था। 'पौराणिक युग' में अध्यापकों की स्थिति वैदिक कालीन जैसी ही रही। 'मत्स्यपुराण' के अनुसार 'आचार्य' पद का स्वामी वही हो सकता था जिसमें अग्रांकित

योग्यताएं हों–'जो अवस्था में वृद्ध हो, निर्लोभ, आत्मज्ञानी, अदाम्भिक, अतिविनम्र तथा मृदु स्वभाव वाला व्यक्ति हो। (मत्स्य पुराण, 145.25 अध्याय)।

इस युग में विद्यादान के द्वारा ही आचार्य के स्वर्ग या मोक्ष पाने की धारणा थी अर्थात्– गुरु का मानना था कि विद्यादान के समक्ष सभी दान तुच्छ हैं यदि व्यक्ति विद्या का दान करता है तो उसे निश्चित रूप से स्वर्ग की अथवा मोक्ष की प्राप्ति होगी (पद्मपुराण, उत्तराखण्ड, 117 अध्याय)।

इस प्रकार हम अनुमान लगा सकते हैं कि महाकाव्य तथा व्याकरणिक काल में भी अध्यापक की स्थिति लगभग उत्तर वैदिक काल, सूत्रकाल एवं ब्राह्मणकाल का समावेश करती हुई वैदिक काल के समान गौरवशाली व सम्मानीय बनी रही। अध्यापक के संबंध में दिए गए विभिन्न पर्याय समानार्थक प्रतीत होते हैं।

बौद्धकालीन अध्यापक

बौद्ध धर्म में बाह्य प्रकरणांक की अपेक्षा आत्मज्ञान पर बल दिया गया। इसके प्रवर्तक महात्मा बुद्ध कहे जाते हैं। इस धर्म की व्यवस्था का वर्णन चीनी यात्री फाह्यिान, हुएत्सांग तथा इत्सिंग ने अपनी-अपनी पुस्तकों में विस्तार से किया है। बौद्ध कालीन शिक्षा का विकास संघों के रूप में हुआ। संघ द्वारा ही गुरु और शिष्य के कर्त्तव्य निर्धारित किए जाते थे। शिष्य का पूर्ण उत्तरादायित्व गुरु पर आश्रित होता था। उपाध्याय को शिष्य को पुत्र की भाँति रखना होता था। शिष्य की शिक्षा, शारीरिक विकास तथा आवश्यकता पड़ने पर भिक्षाटन के लिए पात्रादि का प्रबंध गुरु ही करता था। संघ की मर्यादा या बनाए हुए नियम का यदि गुरु उल्लंघन करता था तो गुरु के लिए उचित दण्ड की व्यवस्था करवाना शिष्य का कर्त्तव्य होता था। इसके विपरीत गुरु को भी निश्चित अवस्थाओं में शिष्य के निष्कासन का अधिकार था। गुरु बहुत सादगी के साथ जीवन व्यतीत करते थे और शिष्य के समक्ष अपना आदर्श उपस्थित करते थे गुरु की आवश्यकताएँ न्यूनतम होती थीं, अध्यापकों के खर्चे के लिए भिक्षान्न के अतिरिक्त धनिक लोगों की ओर से स्थायी आर्थिक सहायता की व्यवस्था थी। शिष्य से उच्च सम्मान प्राप्त करने के लिए गुरु को एक महान उच्च चरित्र, आत्म संयमी तथा आत्मदर्शी होने की आवश्यकता थी। इस युग में अध्यापक के लिए 'आचार्य' और 'उपाध्याय' तथा 'गुरु' का प्रयोग किया है। किंतु योग्यता के आधार पर इनका वर्गीकरण नहीं बताया है। अनेक स्थलों पर वर्णन किया गया है कि 'श्रमण अपने उपाध्याय के साथ ही भिक्षा के लिए जाते थे। जिससे इंगित होता है कि ये 'उपाध्याय' ही उत्तरवैदिक काल में वर्णित परिव्राजक की द्वितीय श्रेणी के 'नैकटिक' होते होंगे, जोकि भिक्षाटन एवं देशाटन से शिक्षा का प्रसार करते थे।

इसके अतिरिक्त, इस युग में 'बालचर-प्रथा' की भी प्रधानता थी, इससे योग्य छात्रों को विकास का अवसर एवं उत्तरदायित्व संभालने का प्रशिक्षण मिलता था, जिसके फलस्वरूप वे जीवन में भली-भाँति सफल हो सकते थे। यहाँ शिष्य को भी गुरु का ही स्थान प्राप्त था। अंतर

केवल आध्यात्मिक ज्ञान के स्तर का था। अध्यापक जीवनपर्यन्त अध्ययन और अध्यापन में तल्लीन रहता था तथा मनोयोगपूर्वक बौद्ध दर्शन से संबंद्ध साहित्य का ही संवर्धन करता था।

इस प्रकार, हम कह सकते है कि बौद्धकाल में अध्यापक का स्थान उतना उच्च तो नहीं रहा जितना कि वैदिक काल, उत्तर वैदिक काल, सूत्रकाल, महाकाव्यकाल या व्याकरणिक काल में था। अपेक्षाकृत उसे शिष्य के लगभग ही रखा गया है। अंतर केवल 'आध्यात्मिक ज्ञान' के आधार पर ही दर्शित होता है।

इसके साथ ही जैन धर्म में परवर्ती युग में आचार्य और उपाध्याय की दो कोटियाँ रखी गईं हैं। जिसमें आचार्य का पद निर्धारित करते हुए कहा है कि यह वह 'मुनि होता है जो अपने आचारों, दर्शन, ज्ञान, वीर्य, चरित्र और तप से दूसरों को समन्वित कर देता है।' उपाध्याय वह है 'जो स्वयं में तीन रत्नों–सम्यकज्ञान, दर्शन और चरित्र से युक्त होता है और नित्य धर्मोपदेश देने में तत्पर रहता है' (प्रव्य संग्रह 32,52–53) कहा जा सकता है कि बौद्ध तथा जैन युग में अध्यापक बहुत कुछ प्राचीन संस्कृति से प्रभावित था।

मध्यकालीन अध्यापक

मध्यकालीन मुस्लिम शिक्षा में भी लगभग गुरु का पूर्ववत् सम्मान किया जाता था, विद्यार्थी द्वारा ही नहीं वरन् समाज द्वारा भी शिक्षक समादरित था। लोगों का विश्वास था कि सच्चा ज्ञान गुरु के बिना संभव नहीं है। अत: श्रद्धा का पात्र गुरु विद्यार्थियों का पूज्य बन जाता और इस गुरु के आदर का परिणाम यह होता है कि विद्यार्थियों में अनुशासन की कमी नहीं रहती थी। विद्यार्थी स्वत: विनम्र और कर्मनिष्ठ बन जाता था।

'शिक्षक' और 'गुरु' में दुराव का भाव नहीं था। मुस्लिम शिक्षा में अध्यापक के लिए मुल्ला, मौलवी तथा उस्ताद शब्द प्रयुक्त हुए हैं। अनेक स्थलों पर वर्णन किया है कि मुल्ला केवल व्यवहारिक ज्ञान को छोड़कर व्याकरण संबंधी, पाठ्यक्रमीय ज्ञान ही देते थे। उस्ताद अनुमानत: उन्हें कहा जाता होगा, जो हस्तकला तथा ललितकलाओं की शिक्षा देते थे तथा सामान्य ज्ञान की शिक्षा देते थे। मुस्लिम शिक्षा पद्धति में मौलवी का स्थान सर्वश्रेष्ठ वर्णित किया गया है। यह शिक्षक धार्मिक, लौकिक तथा अन्य सभी प्रकार का ज्ञान अपने शिष्य को देता था। इस समय में मकतब व मदरसों के संचालन का कार्य शिक्षक पर निर्भर रहता था। इस्लाम धर्म में इस्लामी शिक्षा पर बहुत ध्यान दिया गया और विद्वानों का सर्वाधिक सम्मान करने का निर्देश दिया गया है। हज़रत मुहम्मद के दामाद और इस्लाम धर्म के महान प्रवर्तक हज़रत अली ने कहा था, कि मैं उस व्यक्ति का दास हूँ, जिसने मुझे मात्र एक अक्षर का ज्ञान दिया। इसलिए सभी मुस्लिम शासकों ने शिक्षकों को समुचित आदर प्रदान करके उन्हें अपने-अपने शासन काल में उच्च सामाजिक स्थान दिया। प्रसिद्ध इतिहासकार एफ.ई.की. ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि 'मुस्लिम काल में शिक्षकों का सामाजिक

स्तर ऊँचा था और वे सामान्यत: चरित्रवान व्यक्ति होते थे, जिन्हें सर्वसाधारण का विश्वास एवं आदर प्राप्त था।' इतना सब होते हुए भी प्रतीत होता है कि मुस्लिम काल में आगे चलकर शिक्षक का स्थान इतना उच्च नहीं रह गया था जितना प्राचीन काल में था। एफ.ई.की. ने अपनी पुस्तक में प्रसिद्ध यात्री बर्नियर का उद्धरण दिया है जिसमें औरंगजेब द्वारा अपने मुल्ला (गुरु) को दोषपूर्ण शिक्षा देने के लिए बुरा भला कहे जाने का किस्सा है। मुगल काल में भारतीय विद्वान अध्यापक भी शिक्षा देते थे। कई विद्यालयों में विदेशी विद्वान अध्यापक भी कार्य करते थे। औरंगजेब के समय में वैदिक काल से चली आ रही गुरु प्रणाली तथा शिक्षा को समुचित आदर न मिलने से ह्रास हुआ।

इस प्रकार न तो इस्लामी शिक्षा ही मुस्लिम काल में उच्च स्थान पा सकी और ना ही यह शिक्षा देने वाला शिक्षक ही। साथ ही विद्यार्थियों में गुरु के लिए वह बलिदान की भावना न रह गई थी जो हमें भारतीय प्राचीन शिक्षा परंपरा में अनेक स्थानों पर देखने को मिलती है। औरंगजेब ने भरे दरबार में अपने गुरु को अपमानित करके इस बात को सिद्ध कर दिया कि राज्यभिमानी शासक गुरु के स्थान से अपना स्थान बढ़कर समझता है।

आधुनिक कालीन अध्यापक

ब्रिटिशकाल में अंग्रेजी साम्राज्य होने से भारत में अंग्रेजी के प्रसार एवं प्रचार के लिए अनेक मिशनरी स्कूल खोले गए, जिसमें आंग्ल भाषा मुख्य होने तथा अंग्रेज़ी अध्यापकों का होना स्वाभाविक था। साथ ही भारतीय प्राचीन संस्कृति को जीवित रखने के लिए तथा पाठ्यक्रम में हिंदी तथा संस्कृत भारतीय भाषाओं को गौण स्थान प्राप्त होते हुए भी इन भाषाओं का ज्ञान भारतीय शिक्षकों द्वारा प्राप्त कराना भी स्वाभाविक ही था। अपने उच्च आसन से उतरकर वेतनभोगी बन जाने पर भी भारतीय शिक्षक ने अपने परंपरागत आदर्श लंबे समय तक नहीं छोड़े और वह अपने शिष्यों तथा सर्वसाधारण का भी श्रद्धा का पात्र बना रहा जिसकी झलक वर्तमान में मात्र औपचारिक रहने पर भी मिल जाती है। यदि प्राचीन काल में द्रोण, कपिल, गौतम, विश्वामित्र जैसे महान गुरु भारत में हो गए हैं तो वर्तमान काल में भी गोखले, तिलक, टैगोर, डॉ. राधाकृष्णन तथा डॉ. जाकिर हुसैन आदि शिक्षकों ने कम गौरव प्राप्त नहीं किया है (शिविरा)। भारतीय शिक्षकों में त्याग तथा आर्शीवाद की जड़ें इतनी गहरी पहुँच चुकी थीं कि उन्होंने भौतिक कठिनाइयों के बढ़ते जाने पर भी इस मार्ग को नहीं छोड़ा और यथाशक्ति 'सादा जीवन, उच्च विचार' के आदर्श पर दृढ़ रहे। जहाँ एक ओर शिक्षकों को भौतिक पक्ष की ओर अधिक ध्यान देने के लिए बाध्य होना पड़ा और वे आय के अतिरिक्त स्रोतों के चक्कर में अपने उच्च आदर्शों को ढील देने लगे, वहाँ दूसरी ओर समाज के अधिकांश वर्गों के लिए उनकी आय के साधन बढ़ती हुई भौतिक आवश्यकताओं की दृष्टि से अल्प प्रतीत होने लगे।

बृहस्पति संहिता के अनुसार, प्राचीन समय में शिक्षक की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति

करने में समाज स्वयं को सम्मानित एवं अनुगृहीत करता था। अभिभावकों को भी यह ध्यान रखने को कहा जाता था कि 'उनके बालकों को मात्र एक अक्षर का ज्ञान देने वाले अतिसामान्य शिक्षक को विश्व की बहुमूल्य वस्तु देना भी समुचित शुल्क नहीं समझा जा सकता। 'ए.एस.अल्तेकर: एजुकेशन इन एंशिएंट इण्डिया) शिक्षक के क्षेत्र में यही भावना वैदिक काल से लेकर उन्नीसवी शताब्दी के अंत तक बनी रही। इस प्रकार भारतीय समाज के मन में इस तर्क ने भी जन्म ले लिया कि जब शिक्षक को वेतन मिलता है तो यह अतिरिक्त सेवा क्यों की जाए? जिसके परिणामस्वरूप शिक्षक की परंपरागत प्रतिष्ठा को भारी आघात पहुँचा।

स्वतंत्रता के पश्चात् का समय शिक्षक की सामाजिक प्रतिष्ठा के उत्तरोत्तर पतन की कहानी ही बन गया। परिणामत: स्थिति यहाँ तक पहुँच गई कि एक समय में भगवान के समकक्ष समझे जाने वाले भारतीय शिक्षकों को 1968 में दिल्ली में की गई हड़ताल के समय 'सार्वजनिक कर्मचारियों का बेईमान वर्ग' तक कह दिया गया (सरिता, मार्च 1968)। यह स्थिति स्वयं शिक्षक ने ही उत्पन्न की है। आज वह नारेबाजी, रैली निकालने तथा हड़ताल करने से बिलकुल नहीं हिचकिचाता, अध्यापन को व्यवसाय मानकर चलता है। प्राचीन समय की सी शांतिप्रियता अब उसके लिए केवल नक़ाब बनकर रह गई है जिसे वह किसी भी क्षण हटा सकता है। आज का शिक्षक बेईमान हो या न हो परंतु अपने कर्त्तव्य के प्रति उदासीन तो अवश्य है। अध्यापक एक अग्निपथ के समान है यदि सुंदर और समृद्ध समाज का निर्माण करना है तो शिक्षक को आलसी लिपिक, हड़ताली, श्रमिक एवं भ्रष्ट अधिकारियों के पद चिह्नों पर न चलकर अपना एक अलग ही रास्ता चुनना होगा। जिस पर त्याग तपस्या एवं उच्चादर्शों के पत्थर लगे होंगे। उसे सेना के एक ज़वान की भाँति अपने जीवन को तुच्छ समझने की जगह शुद्ध शिक्षण के लिए अपनी सुख-सुविधाओं एवं आर्थिक सुविधाओं की आवश्यकताओं का बलिदान करना होगा तभी एक नए युग का निर्माण होना संभव हो सकेगा। वह मानवता का आशा केंद्र है। वह विश्व शांति की एक मात्र आशा है। शांति की शक्तियों का प्रतिष्ठाता है। अत: इस कटीले मार्ग में उसकी कठोर साधना उसका बल है। आत्मसंयम, विद्वता, त्याग एवं तपस्या ही उसकी पूँजी है जो उसे उसके उपयुक्त पथ की ओर अग्रसर करने में सहायक हो सकती है। यह आदर्श यद्यपि बहुत ऊँचा है किंतु अध्यापक पद भी तो कम ऊँचा नहीं है। आधुनिक शिक्षक पद अपने गौरवशाली अतीत से प्रेरणा लेकर आगे बढ़े और वर्तमान की पृष्ठभूमि में अपने दायित्व को समझ ले तो यह निश्चित है कि भविष्य का निर्माण उसके द्वारा ही होगा। वर्तमान में यह स्थिति और भी नाजुक हो गई है। आज के शिक्षा जगत में उत्तरोत्तर विकास पथ पर अग्रसर होने के साथ-साथ कुछ समस्याएँ भी प्रकट हो गई हैं जो उसके कर्तव्य में बाधा डालती हैं। उसके पारिवारिक एवं व्यक्तिगत जीवन में कुछ समस्याएँ ऐसी उत्पन्न हो जाती है जो अनिवार्य

उपलब्धियों को निराकार व उपेक्षित कर देती हैं। व्यक्तिगत जीवन में कुछ शिक्षकों के लिए, समुचित वातावरण का अभाव खटकता है फिर भी कुछ ऐसी त्रुटियाँ रह जाती हैं जिनका समाज में कोई विकल्प नहीं है यह अध्यापक की ओर से भी होती है और समाज की ओर से भी। अतः यह एक अग्रगामी, उत्साही एवं श्रमनिष्ठ शिक्षक के लिए उसी के अनुरूप वातावरण मिलना अत्यंत आवश्यक है।

वर्तमान सामाजिक स्थिति

किसी भी समाज के आधार स्तम्भ शिक्षक ही होते हैं, उन्हीं के विवेक, कर्त्तव्य-परायणता, आदर्शोन्मुखता जैसे सद्‌गुणों से ही समाज का कायाकल्प हो सकता है। इसके विपरीत जिस समाज में शिक्षक वर्ग उदासीन होकर आलसी हो जाता है वह समाज शीघ्र ही अस्त-व्यस्त पत्नोन्मुख हो जाता है। विश्व का इतिहास इसका प्रत्यक्ष साक्षी है। शिक्षकों ने सदैव समाज एवं राष्ट्र के निर्माण में योगदान दिया है। भारत का अतीत तो इसका ज्वलंत उदाहरण है। आज की तुलना में उस पीढ़ी के शिक्षक अधिक साधन-विहीन थे, लेकिन साधनों के अभाव के बिना भी वह शिक्षा के माध्यम से ऐसा और इतना विस्मयकारी परिवर्तन ला सके थे जिसके लिए हम आज भी तरस रहे हैं। महात्मा गाँधी ने जो काम राजनीति में किया उसे उन लोगों ने शिक्षा के माध्यम से भावी पीढ़ी और तात्कालिक समाज में पैदा कर दिया। आज मानव संसाधनों की अधिक आवश्यकता है तभी समाज में फैली कुरीतियों का उन्मूलन कर सकेंगे। जहाँ शिक्षण प्रक्रिया में निर्जीव चीज़ें नहीं मानवीय आकांक्षा, आत्मीयता, श्रम और लगन प्रमुख रहती है, वहाँ सार्थक परिणाम आसानी से प्राप्त किए जा सकते हैं।

समाज के प्रति शिक्षक का दायित्व

शिक्षा का समाज पर सीधा प्रभाव पड़ता है क्योंकि शिक्षक ही नए नागरिकों का एक तरह से निर्माण करता है जिससे कालांतर में नए समाज का जन्म होता है। वर्तमान समाज एवं भविष्य में बनने वाले सामाजिक घटकों से शिक्षक का प्रभावी संबंध है इसी कारण शिक्षक की अहम भूमिका को नकारा नहीं जा सकता है। परंतु दुर्भाग्य से इस महत्वपूर्ण भूमिका की ओर अब तक उतना ध्यान नहीं दिया गया जितना अपेक्षित है। शिक्षक की भूमिका के लिए समाज एवं शिक्षक दोनों ही उत्तरदायी हैं। क्या शिक्षक में ही त्याग, तपस्या, असाधारण धैर्य, सहिष्णुता, विश्वास, आस्था, विमुक्त इच्छा एवं निःस्वार्थपरता आदि गुणों का समावेश होना चाहिए? क्या समाज के उसके प्रति कुछ कर्तव्य नहीं हैं? आखिर उसके भी परिवार हैं, स्वयं उसकी तथा उसके परिवारजनों की भी आकांक्षाएँ है। वह उन सबका खून करके, स्वयं जलकर दूसरों को प्रकाश और अपने त्याग से जन-साधारण में त्याग और तपस्या का विकास कैसे कर सकता है? क्या ये सब प्रश्न वर्तमान समाज के लिए विचारणीय नहीं हैं? जब सम्पूर्ण समाज ही दूषित हो रहा हो, ऐसे में शिक्षक अपने को

अछूता कैसे रख सकता है जब भौतिक उन्नति की दौड़ में सभी भाग रहे हों तब शिक्षक कब तक त्याग की मूर्ति बना रहेगा? और यदि मान ले कि अगर 'सादा जीवन उच्च विचार' का आदर्श वह स्वयं अपना ले तो क्या उसकी संतानें 'त्वमेव अनुसरनि' का कथन चरितार्थ कर सकेंगी? आज के इस फैशन परस्त समाज के नित नए प्रलोभनों के स्पर्श से उस सीमित साधन व आय वाले शिक्षक की संतानें क्या बच सकेंगी? आज सिंचाई, कृषि या पुलिस आदि विभागों में कार्य करने वाला व्यक्ति भी आलीशान कोठी खड़ी कर लेता है, एक शिक्षक क्या अपनी संतान को डॉक्टर या इंजीनियर बनाने का सपना भी नहीं देखेगा? और यदि उसने देखा तो उसे निश्चित रूप से द्वार-द्वार पर 'अर्घ्यदास्यामि' का वचन देकर उस वचन को निभाने के लिए, क्या वह अतिरिक्त अर्थोपार्जन का द्वार नहीं खटखटाएगा। यही कारण है कि आजकल बहुत से अध्यापक अधिक आय के लिए ट्यूशन पढ़ाते हैं। प्राचीन समय का अध्यापक उपर्युक्त दुर्गुणों को त्याग कर समस्त अभावों के बावजूद कठिनतम परिस्थितियों का सामना करते हुए फरिश्ता बना हुआ था, त्रिदेवों में उस का नाम था – गुरुब्रह्मा गुरुवे नमः। जब से उसने अपना यह फरिश्तापन छोड़ दिया है तभी से देश, समाज एवं स्वयं उसकी दुर्दशा का बीजारोपण हो गया तथा वह सम्मान पूर्ण स्थान खो बैठा।

सम्मान भीख की तरह मांगा नहीं जाता वरन् सम्मान के योग्य बनना पड़ता है पहले ईसा की तरह सूली पर निःस्वार्थ भाव से चढ़ना होगा। यदि सिकंदर जैसे शिष्य चाहिए तो पहले अरस्तू जैसा बनना होगा, टैगोर तथा राधाकृष्णन बनने की ओर कदम बढ़ाना होगा। इसके अतिरिक्त शिक्षक को प्रशिक्षित करने वाली संस्थाओं में भी शिक्षक की तपोमय भूमिका बनाने का यथा साध्य प्रशिक्षण देना होगा ताकि वे भावी यथार्थ जीवन जीने की तैयारी में सक्षम हो सकें।

इसका दूसरा पहलू समाज का शिक्षकों के प्रति दायित्व भी है। समाज, जो सम्मान एक राजनीतिज्ञ, सरकारी अफसर, पटवारी या पुलिसमैन को देता है उसके मुकाबले शिक्षक एवं शिक्षाविद को नहीं देता। समाज का कर्त्तव्य है कि जिसके हाथ में वह अपनी अमूल्य निधि सौंपता है उसके विषय में भी पूरा विचार करे। शिक्षक को जो कि, नित्य ही अपना जीवन उसी समाज के बच्चों का जीवन बनाने में स्वाह कर रहा है उसे भी तो उसकी सेवाओं का प्रतिफल मिलना चाहिए।

असंतुष्ट अध्यापक

कहा जाता है कि 'संतुष्ट शिक्षक' ही संतुष्ट छात्र बना सकता है। आज आक्रोश में देश एवं देश के विद्यालय जल रहे हैं। जब भी कोई अनुशासनहीनता का कारण होगा तो शिक्षक को ही दोषी ठहराया जाएगा। अध्यापक असंतोष का यह भी एक कारण है कि आज का व्यक्ति अपने हिमालय के समान दोश तो देखता नहीं और शिक्षकों की आलोचना करता रहता है। इस सारे वैचारिक मंथन से निष्कर्ष निकलता है कि शिक्षक एवं समाज दोनों को ही उत्तरदायित्वों

के रथ के दोनों चक्रों की भाँति ईमानदारी से निर्वहन करना चाहिए। शिक्षक समाजोन्मुख होना चाहिए और समाज शिक्षोन्मुखी, तब ही शिक्षक समाज में पुनः प्रतिष्ठा पायेंगे, यह दोनों तरफ से ही परमावश्यक है।

परिवर्तनशील समाज और अध्यापक

समाज में जब बदलाव आता है शिक्षक के साथ शिक्षक की भूमिका में भी परिवर्तन आता है बच्चों की शिक्षा दीक्षा में गुरु की महत्ता तो निर्विवाद रूप से रही है। प्रत्येक काल में यह मौजूद थी इस महत्ता से यदि कहीं फर्क पड़ा है तो वह इस भूमिका के निर्वाह को लेकर ही पड़ा है कि कितनी बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता से शिक्षकों ने इसे निभाया है। समय की गति कितनी भी तीव्र क्यों न हो जाए शिक्षा में उसकी भूमिका को नकार पाना असम्भव होगा। शिक्षक शिष्य के लिए एक मित्र है, दार्शनिक है और साथ में पथ-प्रदर्शक भी है। यह बात स्पष्ट है कि जो भूमिका पहले आदेशात्मक हुआ करती थी, अब मित्रवत होती चली जाएगी। वह गुरु से 'शिक्षक' बना, शिक्षक से 'टीचर' और टीचर से 'फेसिलिटेटर की भूमिका अदा करता (शिविरा) प्रतीत होता है कि शिक्षा और जीवन से जुड़ी आज भी अनन्त समस्याएँ हैं जो हमारे प्रयास के बावजूद, लगता है आने वाले कल तक विद्यमान रहेंगी तथा आने वाली पीढ़ी अपनी समस्त समस्याएँ अलग लाएगी। इस स्थिति में शिक्षक के लिए यह सोचना अनिवार्य हो जाता है कि उसे निरक्षरता उन्मूलन, नामांकन या वैज्ञानिक सूझ-बूझ पैदा करने के लिए अपनी कैसी और कितनी तैयारी करनी होगी। वस्तुतः समाज में अध्यापक एकमात्र ऐसा व्यक्ति है जो अपना कार्य नियन्ता क्रियान्वयक और मूल्यांकनकर्ता भी है।

वर्तमान समाज में ऐसी नई बात देखने को मिलती हैं जो कि विद्यालय एवं शिक्षकों के भविष्य पर प्रश्नचिह्न लगाने का प्रयास कर रही है। ये हैं तकनीकी शिक्षा के क्षेत्र में प्रवेश एवं विद्यालयरहित समाज की स्थापना। तकनीकी के परिणामस्वरूप मशीनें अधिकाधिक मात्रा में शिक्षकों का कार्य स्वयं करने लगी हैं। इनसे शिक्षण की समस्याएँ इतनी तीव्र हो रही हैं कि विचारकों ने मत भी व्यक्त करना प्रारम्भ कर दिया है कि हम संभवतः ऐसे युग की ओर अग्रसर हो रहे हैं जिसमें, शिक्षण कार्य पूर्णरूपेण मशीनें करेंगी और मानव शरीरधारी अध्यापक का अस्तित्व समाप्त हो जाएगा। यदि यह पूर्णतः सम्भव न हुआ तो संकुचित तो अवश्य ही हो जाएगा।

दूसरी ओर बदलती हुई परिस्थितियाँ एवं शिक्षा की बढ़ती हुई आवश्यकताओं के संदर्भ में कुछ शिक्षाविदों ने विचार किए हैं कि विद्यालय अपनी उपयोगिता खो चुके हैं। इवान इलिच एवं एवर्ट रैमर ने अपनी पुस्तकों में विद्यालयों को समाप्त करके इनके विकल्प खोजने के सुझाव दिए हैं। यदि इस तथ्य को व्यवहारिक समझकर समाज को विद्यालयरहित बना दिया जाता है तो स्पष्ट है कि शिक्षकों का वर्तमान स्वरूप भी स्वतः ही समाप्त हो जाएगा और साथ ही उन्हें

समाज में पुनर्स्थापित करने की समस्या भी समाप्त हो जाएगी। इसके विषय में निश्चित रूप से कहना असम्भव होगा। जैसा कि यूनेस्को द्वारा नियुक्त 'विश्व शिक्षा आयोग' के प्रतिवेदन में विचार व्यक्त किया गया है कि 'स्कूल रहित समाज की स्थापना की संकल्पना अभी तक मात्र वैदिक अनुमान के स्तर पर है और इसकी पुष्टि के लिए कोई प्रयोगात्मक आधार उपलब्ध नहीं है।

अत: निकट भविष्य में तो ऐसा कुछ हो पाने की संभावना प्रतीत नहीं होती। तब तक यदि संयोग से वह दिन आया भी तो भारत अथवा अन्य किसी देश का कल्याण शिक्षक को उचित सामाजिक एवं आर्थिक स्तर प्रदान किए बिना संभव प्रतीत नहीं होता है और जैसा कि पूर्वलिखित है कि यह कार्य राज्य समाज, शिक्षकों द्वारा निर्मित संघ एवं व्यक्तिगत रूप से शिक्षक सभी के सामूहिक प्रयासों से ही संभव हो सकेगा।